गोपाद्रौ देवपत्तने

※ हरिहरनिवास द्विवेदी

वि० सं० 1469 (सन् 1412 ई०) में कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत "तत्वदीपिका" टीका की एक प्रतिलिपि वीरमेन्द्रदेव के राज्यकाल में ग्वालियर में की गई थी। इसके प्रतिलिपि काल और प्रतिलिपि स्थल के विषय में उसमें निम्नलिखित पंक्तियां प्राप्त होती हैं—

विक्रमादित्य राज्येऽस्मिश्चतुर्दशपरेशते ।
नवषष्ठ्या युते किंनु गोपाद्रौ देवपत्तने ।।

वीरमेन्द्रदेव ग्वालियर के तोमर राजा (सन् 1402-1423 ई०) थे और टीका के प्रतिलिपिकार ने उनके गढ़ गोपाद्रि को "देवपत्तन" कहा है। कुछ जैन तीर्थमालाओं में भी ग्वालियर का उल्लेख प्रसिद्ध जैन तीर्थ के रूप में किया गया है।[1]

इन उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि कभी ग्वालियर की गणना प्रसिद्ध जैन तीर्थों में की जाती थी और जैन धर्मावलम्बियों के लिए वह "देवपत्तन" था। ग्वालियर की वह महिमा अब नहीं रही है। वह महिमा किस प्रकार उपलब्ध हुई थी और वह फिर किस प्रकार नष्ट हो गई इसके इतिहास की खोज अभी तक सम्यक् रूप से नहीं की गई है, यद्यपि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये बहुत अधिक सामग्री अभी भी उपलब्ध है। इस विषय से सम्बद्ध इतने अधिक शिलालेख, मूर्तिखण्ड तथा साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होते हैं कि उनकी ओर अब तक समर्थ विद्वानों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये था। उस सामग्री के आधार पर न केवल उत्तरी मध्यप्रदेश में जैन धर्म के विकास का इतिहास सुपुष्ट रूप से लिखा जा सकता है, वरन् उस प्रदेश के मध्ययुग का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास भी प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है।

तोमरों के इतिहास की सामग्री की खोज करते समय मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि अब तक हम जिस सामग्री को इतिहास-निर्माण का प्रमुख आधार मान कर चले हैं, वह बहुत प्रामाणिक नहीं है। इस क्रम में यह धारणा भी पुष्ट हुई है कि समकालीन जैन साहित्य

---

1. बावन गज प्रतिमा गढ़ गुवालेरि सदा सोभती ।। 33 ।।

—तीर्थमाला, पृ० 111।

गढ़ गवालेर वावन गज प्रतिमा
बन्दु ऋषभ रंगरोली जी ।। 14-ˆ ।।

सौभाग्य विजय तीर्थमाला, पृ० 98।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ऐसी ऐतिह्य सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर मध्ययुग के इतिहास की खोई हुई कड़ियों को जोड़ा जा सकता है और कुछ बहुत बड़ी भूलों को सुधारा जा सकता है। यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त है। लगभग चार शताब्दियों से भारतीय इतिहास में यह बात निर्विवाद मानी जाती है कि पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था, और यह राज्य उसे उसके पूर्वज विग्रहराज चतुर्थ से दाय में मिला था; अर्थात्, विग्रहराज चतुर्थ ने कभी सन् 1151 ई० में तोमरों से दिल्ली जीत ली थी। यद्यपि ईसवी चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के कुछ जैन मुनि भी इस भ्रम से अभिभूत थे, तथापि, समकालीन जैन रचनाएं यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि चौहानों ने तोमरों से दिल्ली कभी नहीं जीती थी और पृथ्वीराज चौहान का दिल्ली से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। उसका राज्य शाकम्भरी प्रदेश तक सीमित था और उसकी राजधानी सदा अजमेर ही रही। यदि ये जैन ग्रन्थ उस समय उपलब्ध हो जाते जब भारत का इतिहास लिखे जाने का प्रारम्भिक प्रयास किया जा रहा था, तब हमारी अनेक पीढ़ियां दिल्ली का अशुद्ध इतिहास पढ़ने से बच जातीं। अब वह अशुद्धि हमारे मस्तिष्क पटल पर इतनी गहरी खचित हो गई है कि उसे मिटाने में भी बहुत समय लग सकता है।

ग्वालियर प्रदेश के मध्ययुगीन इतिहास ग्रन्थों में इतनी भयंकर भूलें तो नहीं थीं, फिर भी कुछ थीं अवश्य। समकालीन जैन ग्रन्थ, जैन मूर्तिलेख आदि से न केवल उन भूलों को सुधारा जा सकता है, वरन् जो तथ्य अब तक अज्ञात ही हैं उन पर विषद् प्रकाश डाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के इतिहास का अध्ययन न केवल जैन धर्म के अनुयायियों के लिए उपयोगी एवं स्फूर्तिदायक है, वरन् भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास को भी ठोस धरातल प्रदान करता है। मैंने ग्वालियर या दिल्ली क्षेत्र में जैन धर्म के विकास का अध्ययन सम्यक् रूप से नहीं किया है, वरन्, इन क्षेत्रों के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने के लिए ही जैन-स्रोतों का अध्ययन किया है। उसी आनुषंगिक अध्ययन के क्रम में जैन धर्म के विकास की कुछ रूपरेखा भी सामने आई है। दिल्ली में जैन धर्म के विकास की गाथा यहां असम्बद्ध है, यहां केवल ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास की उपलब्ध सामग्री पर किंचित प्रकाश डालना अभीष्ट है।

जैन धर्म के विकास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु ग्वालियर क्षेत्र में उसके विकास का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है, अथवा यह कहना उचित होगा कि ईसवी सातवीं-आठवीं शताब्दी के पूर्व के इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास की सामग्री की अभी खोज नहीं की जा सकी है।

सब से प्राचीन अनुश्रुति पद्मावती की प्राप्त होती है। ईसवी प्रथम शताब्दी के आसपास मथुरा, कान्तिपुरी, पद्मावती और विदिशा में नाग राजाओं का राज्य था। उनमें से कुछ को निर्विवाद रूप से सम्राट् कहा जा सकता है। इन चारों नगरों में कान्तिपुरी और पद्मावती ग्वालियर क्षेत्र में हैं। पद्मावती वर्तमान समय में पवाया नामक छोटे-से ग्राम के रूप में विद्यमान है और कान्तिपुरी के स्थान पर कुतवार नामक ग्राम है। जिस समय ये दोनों स्थान महानगरों के रूप में बसे हुए थे उस समय गोपाद्रि गोपों अर्थात् गोपालों की भूमि था और उसका विशेष महत्व नहीं था।

दुर्भाग्य से पद्मावती (पवाया) तथा कान्तिपुरी (कुतवार) का अभी तक विस्तृत पुरातात्विक अन्वेषण नहीं हुआ है। इन स्थानों पर उत्खनन करने पर ऐसी प्राचीन सामग्री प्राप्त होगी जिससे यहां जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ेगा। आज जैसी स्थिति है उसमें केवल अनुश्रुति से काम चलाना पड़ेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनियों की चौरासी उपजातियों में एक "पद्मावती पुरवाल" भी है। इसी उपजाति में पन्द्रहवीं शताब्दी में रइधू नामक जैन कवि हुआ था। वह अपने आपको "पोमावइ-कुल-कमल-दिवायरु" लिखता है। पद्मावती पुरवाल अपना उद्गम ब्राह्मणों से बतलाते हैं और अपने आपको पूज्यपाद देवनन्दी की सन्तान कहते हैं। जैन जातियों के आधुनिक विवेचकों को पद्मावती पुरवाल उपजाति के ब्राह्मण-प्रसूत होने में घोर आपत्ति है। परन्तु, इतिहास पद्मावती पुरवालों में प्रचलित अनुश्रुति का समर्थन करता है। जिसे वे "पूज्यपाद देवनन्दी" कहते हैं वह पद्मावती का नाग सम्राट् देवनन्दी है। वह जन्म से ब्राह्मण था। उसकी मुद्राएं अत्यधिक संख्या में पद्मावती में प्राप्त होती हैं जिन पर "चक्र" का लांछन मिलता है और "श्री देवनागस्य" या "महाराज देवेन्द्र" श्रुतिवाक्य प्राप्त होते हैं। देवनाग का अनुमानित समय पहली ईसवी शताब्दी है।[2] पद्मावती पुरवालों में प्रचलित अनुश्रुति तथा पद्मावती के देवनाग का इतिहास एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञात यह होता है कि देवनन्दी अथवा उसके किसी पुत्र ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और उसकी संतति अपने आपको पद्मावती पुरवाल जैन कहने लगी। जैन मुनि और जैन व्यापारी कभी एक स्थल पर बंधकर नहीं रहते। ये पद्मावती पुरवाल समस्त भारत में फैल गए, तथापि वे न तो पूज्यपाद देवनन्दी को भूले और न अपनी धात्री पद्मावती को ही भूल सके।

पद्मावती में अभी तक कोई प्राचीन जैन मूर्ति नहीं खोजी जा सकती है। उसका कारण यही है कि उस स्थल पर अभी कोई विस्तृत उत्खनन हुआ ही नहीं है। वहां पर जो माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा मिली है वह जैनों द्वारा भी पूजित हो सकती है, परन्तु निश्चयात्मक रूप से उसे जैन प्रतिमा नहीं कहा जा सकता। उस युग के सभी व्यापारी यक्ष पूजा करते थे। कुबेर को भी वे यक्ष ही मानते थे। यही कारण है कि प्राचीन राजमार्गों पर बसे नगरों में यक्षों की मूर्तियां बहुत मिलती हैं। वे उस समय के सार्थवाहों के आराध्य देवता थे। उन सार्थवाहों में अधिकांश जैन होते थे।

इसके आगे लगभग पांच-छह शताब्दियों तक चम्बल और सिन्धु के बीच के प्रदेश के सन्दर्भ में जैन धर्म के विकास या अस्तित्व का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सका है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसी बीच गोपाचलगढ़ पर कुछ हलचल होने लगी थी। वहां किसी रूप में कुछ बस्ती बस गई थी। सन् 520 ई० में अर्थात्, मिहिरकुल हूण के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में मातृचेट ने गोपागिरि पर सूर्य का मन्दिर बनवाया था, यह तथ्य शिलालेख की साक्ष्य से सिद्ध है।[3] मातृचेट के शिलालेख में गोपाद्रि का वर्णन संक्षिप्त रूप में दिया गया है—"गोप नाम का भूधर जिस पर विभिन्न धातुएं प्राप्त होती हैं।" इन धातुओं को प्राप्त करने के लिए मानव श्रम आवश्यक रहा होगा, और आसपास मानव निवास हो गया होगा। कुछ साधु-सन्त भी वहां रहने लगे होंगे, परन्तु वे सिद्ध योगी थे।

गोपाचलगढ़ और उसके आस-पास जैन धर्म के विकास के क्रम में यशोवर्मन के राजकुमार आम का नाम उल्लेखनीय है। प्रबन्धकोश के अनुसार, गोपालगिरि दुर्ग-नगर कान्यकुब्ज देश में था और उसे कन्नौज के प्रतापी राजा यशोवर्मन के पुत्र आम ने अपनी राजधानी

---

2. द्विवेदी, मध्यभारत का इतिहास, भाग 1, पृ० 471।

3. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र० 616।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाया था। इस आम ने बप्पभट्टि सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया और गोपगिरि पर एक सौ एक हाथ लम्बा मन्दिर बनवाया जिसमें वर्धमान महावीर की विशाल प्रतिमा स्थापित की गई। बप्पभट्टिचरित तथा प्रभावक चरित से भी इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। "आम" यदि यशोवर्मन का राजकुमार है तब उसका समय 750 ई० माना जाएगा। गोपाचलगढ़ पर जैन मन्दिर निर्माण का यह प्रथम उल्लेख है। आम द्वारा निर्मित जैन मन्दिर बहुत समय तक अस्तित्व में रहा। संभवत: उसे तेरहवीं शताब्दी में कभी तोड़ दिया गया था। यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस मन्दिर में उत्कीर्ण मूर्तियां अत्यन्त पुष्ट मूर्तिशिल्प का उदाहरण थीं। अभी हाल ही में सिन्धिया पब्लिक स्कूल के इतिहास के प्राध्यापक श्री आर्थर ह्यूज को गढ़ पर गंगोलाताल के कचरे में एक मूर्तिखण्ड प्राप्त हुआ है। भारतीय मूर्तिकला के अवशेष की यह अप्रतिम उपलब्धि है और आठवीं शताब्दी के पश्चात् की नहीं है। उस समय ग्वालियर के आसपास अन्य जैन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था। लेखक के संग्रह में जो जैन चौखम्भा है वह उसे मुरार नदी के पास एक बंगले में प्राप्त हुआ था। वह भी आठवीं शताब्दी की कृति ज्ञात होता है। तेली के मन्दिर के प्रांगण में अनेक जैन मूर्तियां रख दी गई हैं। उनमें से अनेक आठवीं और नौवीं शताब्दी की ज्ञात होती हैं। गूजरीमहल संग्रहालय में भी आठवीं और नौवीं शताब्दियों की अनेक जैन मूर्तियां हैं, परन्तु उनके उपलब्ध होने के स्थलों का पता नहीं चलता। उनमें से अनेक ग्वालियर गढ़ अथवा ग्वालियर नगर से प्राप्त हुई होंगी। बप्पभट्टि सूरि उपदेश से आम ने जो विशाल जैन मन्दिर बनवाया था, उसके अवशेष मेजर जनरल कनिंघम ने भी देखे थे। वह सासबहू मन्दिर तथा हथिया पौर के बीच में स्थित था। उस पर एक वि० सं० 1165 (सन् 1108 ई०) का शिलालेख भी मिला था, जिसमें केवल वर्ष ही पढ़ा जाता था। श्री कनिंघम ने अनुमान यह किया था कि यह मन्दिर सन् 1108 ई० में निर्मित हुआ था।[4] यह कथन ठीक ज्ञात नहीं होता। यह वही जैन मन्दिर था जो सन् 750 ई० के आसपास आम ने बनवाया था। वि० सं० 1165 का शिलालेख जीर्णोद्धार से सम्बन्धित होगा। वि० सं० 1165 में कोई नवीन जैन मन्दिर गोपाचलगढ़ पर निर्मित नहीं हुआ था, न हो सकता था।

कन्नौज के प्रतीहार राजा परम वैष्णव थे। रामदेव तथा भोजदेव ने गोपाचलगढ़ को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेख तथा अन्य शिलालेखों[5] से यह ज्ञात होता है कि रामदेव प्रतीहार ने गोपाचलगढ़ पर स्वामि कार्तिकेय का मन्दिर बनवाया था और आनन्दपुर (गुजरात) के बाइल्लभट्ट को "मर्यादाधुर्य" (सीमाओं का रक्षक) नियुक्त किया था। वि० सं० 932 (सन् 875 ई०) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस बाइल्लभट्ट का पुत्र अल्ल गढ़ का कोट्टपाल था और उसने अपने पिता की स्मृति में बाइल्लभट्ट स्वामिन् विष्णु का मन्दिर बनवाया था। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि प्रतीहारों के समय में जैन धर्म के अनुयायियों पर कोई प्रतिबंध लगाया गया था। भारत का राजतन्त्र समस्त प्रजाधर्मों के पोषण की नीति अपनाता था।

जिस समय कन्नौज के प्रतीहारों का प्रताप सूर्य पूर्ण प्रभामय होकर अस्ताचलगामी हो रहा था, उसी समय चम्बल की उपत्यिका में एक नवीन असिजीवी वर्ग संगठित हो रहा था। स्थानीय कच्छपान्वय वर्ग को

---

4. आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 2, पृ० 363।
5. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० 8 तथा 415

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पराजित कर उसने कच्छपघात विरुद धारण किया। इसी वंश में परम प्रतापी वज्रदामन् कच्छपघात हुआ जिसने नगाड़े बजाते हुए कन्नौज के राजा को पराजित कर उससे गोपाद्रिगढ़ जीत लिया। इस वज्रदामन कच्छपघात के राज्यकाल की एक जैन प्रतिमा सुहानिया में प्राप्त हुई है जिस पर वि. सं. 1034 (सन् 977 ई.) का मूर्तिलेख है और महाराजाधिराज वज्रदामन के राज्यकाल का उल्लेख है।[6] ज्ञात यह होता है कि इस नवोदित कच्छपघात शक्ति के पीछे जैन मुनियों का मस्तिष्क कार्य कर रहा था। श्योपुर जिले के दुबकुण्ड नामक स्थान पर वि. सं. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि विक्रमसिंह के पिता अर्जुन कच्छपघात ने राजपाल प्रतीहार को मार डाला था।[7] यह अर्जुन विद्याधर चन्देल का मित्र था। विक्रमसिंह के शिलालेख के रचयिता हैं शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति। वज्रदामन के समय के जैन मूर्तिलेख तथा विक्रम सिंह के दुबकुण्ड के शिलालेख के बीच 110 वर्ष का अन्तर है। ज्ञात यह होता है कि इस बीच उत्तरी ग्वालियर क्षेत्र में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय पर्याप्त प्रभावशाली हो गया था। सासबहू के मन्दिर (बड़े) अर्थात् पद्मनाभ विष्णु के मन्दिर के विस्तृत शिलालेख का रचयिता यद्यपि गोविन्द का पुत्र मणिकण्ठ है, तथापि वह दिगम्बर यशोदेव द्वारा लिखित है।[8] यह स्पष्ट है कि ग्वालियर के कच्छपघातों की राजसभा में दिगम्बर जैन मुनियों का पर्याप्त सम्मान था। वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई.) के दुबकुण्ड के जैन मन्दिर के शिलालेख[9] से यह भी ज्ञात होता है कि उस मन्दिर में महाचार्यवर्य देवसेन की पादुका का पूजन होता था। महाचार्य देवसेन ने इस क्षेत्र में धर्म की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ाई थी।

सबसे विचित्र शिलालेख मधुसूदन कच्छपघात के शिव मन्दिर का है। वि. सं. 1161 (सन् 1104 ई.) के शिव मन्दिर के इस शिलालेख के रचयिता निर्ग्रन्थनाथ यशोदेव हैं।[10] उस समय भी ग्वालियर में हिन्दू और जैनों में पूर्ण सौहार्द्र था।

परन्तु परम वैष्णव और शैव कच्छपघातों के राज्यकाल में कभी-कभी उनके राज्याधिकारी जैनियों को संकट उत्पन्न कर देते थे। कच्छपघात मूलदेव (भुवनैकमल्ल) के राज्यकाल में कुछ राज्याधिकारियों ने गोपाचलगढ़ पर स्थित वर्धमान महावीर के मन्दिर की पूजा-अर्चा के लिए जैनियों का अबाध प्रवेश बन्द कर दिया। मलधारी गच्छ के श्री अभयदेव सूरि ग्वालियर पधारे और उन्होंने भुवनैकमल्ल को उपदेश दिया। राजा ने पुनः समस्त जैनियों को वर्धमान के मन्दिर में पूजा-अर्चा की अनुमति दे दी।

कच्छपघातों के पश्चात् ग्वालियरगढ़ पुनः प्रतीहारों के अधिकार में आया। हमें कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ग्वालियर के इन प्रतीहारों के समय में जैन धर्म की इस क्षेत्र में क्या स्थिति थी। परन्तु यह सुनिश्चित है कि उन्होंने जैन धर्म को उत्सन्न करने का कोई कार्य नहीं किया।

---

6. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 20।
7. वही, क्र. 54।
8. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र. 55 तथा 56।
9. वही, क्र. 58।
10. वही क्र. 61।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त:सलिला के समान जैन मुनि अपना प्रचार करते रहे। परन्तु इस क्षेत्र का गुलाम सुल्तानों द्वारा विजित किया जाना सभी भारतमूलीय धर्म साधनाओं के लिए घातक सिद्ध हुआ था। इल्तुतमिश ने आम के प्रसिद्ध महावीर मन्दिर को भी ध्वस्त कर डाला और उसे मस्जिद बना दिया।

इसी बीच जैन धर्म नरवर में विकास कर रहा था। जैन धर्म की नरवर में वास्तविक उन्नति जज्ज-पेल्ल वंश के समय में हुई है। चाहडदेव से गणपतिदेव (सन् 1247-1298 ई.) तक यह राजवंश नरवर पर राज्य करता रहा; उन राजाओं के राज्यकाल में नरवर में जैन धर्न का बहुत अधिक विकास हुआ। वि. सं. 1314 (सन् 1257 ई.) से वि. सं. 1324 (सन् 1267 ई.) के बीच निर्मित सैकड़ों जैन मूर्तियाँ नरवर में प्राप्त हुई हैं[11] नरवर के इन राजाओं के शिलालेखों के अधिकांश पाठ जैन साधुओं द्वारा विरचित हैं।

इसी बीच कभी स्वर्णगिरि क्षेत्र में भी जैनपट्ट स्थापित हो गया था। रइधू ने सम्मइचरित में स्वर्ण-गिरि के काष्ठासंघ के भट्टारकों की वंश परम्परा दी है। उसमें दुबकुण्डवाले देवसेन को प्रथम भट्टारक बतलाया है। सन् 1411 ई. के पूर्व इस पट्ट पर देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन तथा सहस्रकीर्ति पट्टासीन हो चुके थे। अगले भट्टारक गुणकीर्ति (सन् 1411-1429 ई.) ने अपना पट्ट ग्वालियर में स्थानान्तरित कर लिया था और यहीं से स्वर्णगिरि तथा नरवर के जैन संघों का नियंत्रण होने लगा था।

चम्बल के किनारे स्थित ऐसाह के छोटे-से तोमर जागीरदार वीरसिंहदेव ने सन् 1394 ई. में गोपाचलगढ़ पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन को पराजित कर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी।[12] इस घटना के पूर्व ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के कुछ बिखरे हुए प्रमाण ही उपलब्ध हुए हैं। इस क्षेत्र में सन् 1400 ई. के पूर्व का न तो कोई जैन ग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है और न जैन मुनियों एवं श्रावकों की गतिविधियों की कोई जानकारी ही प्राप्त हुई है। कुछ मूर्तियों एवं शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में जब-जब किसी स्थानीय शक्ति ने तुर्क सुल्तानों के वर्चस्व से सम्पूर्ण या आंशिक त्राण प्राप्त किया तभी भारतमूलीय धर्मों के अनुयायियों ने अपने आराधना स्थलों का निर्माण या पुनर्निर्माण प्रारंभ कर दिया। यह भी सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू तथा जैन धर्मों के अनुयायी, दोनों बिना किसी झगड़े के साथ-साथ अपने मार्ग अपनाते रहे। परन्तु मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण मात्र धार्मिक चिन्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है। इन मूर्तियों को प्रश्रय देनेवाले मन्दिर सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रश्रय के प्रमुख स्थल होते थे। दुर्भाग्य से जो—कुछ अवशिष्ट है वह उस धर्मसाधना का बाह्य रूप ही है, उसकी आत्मा हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है। उस समय के समस्त मन्दिर तथा उनमें विरचित साहित्य कालगति अथवा मानव द्वारा नष्ट कर दिए गए और वे प्रमाण अनुपलब्ध हो गए जिनसे उस युग के चिन्तन के स्वरूप को जाना जा सकता। परन्तु यह मानना भूल होगी कि उस समय के इस क्षेत्र के जैन साहित्य का अब अस्तित्व है ही नहीं। स्वर्णगिरि, नरवर, ग्वालियर, मगरौनी, झांसी आदि के जैन मन्दिरों के ज्ञान भण्डारों में हजारों ग्रन्थ अभी भी सुरक्षित हैं, जिनकी प्रति वर्ष धूपदीप देकर

11, नरवर और शिवपुरी क्षेत्र में वि. सं. 1206 (1149 ई.) से ही जैन मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। देखिये, द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 72, 73, 74, 76, 77 तथा 84।

12. द्विवेदी, तोमरों का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 28–29।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजा की जाती है, दुर्भाग्य से उन्हें कोई पढ़ता नहीं है, न उनकी सूचियाँ बनी हैं। जिस दिन यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा, इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास को सजीव रूप दिया जा सकेगा।

सन् 1394 ई. में ग्वालियर के तोमर राज्य की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र के इतिहास पटल पर से अन्धकार का पर्दा हट जाता है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के साथ-साथ जैनधर्म के विकास का इतिहास भी अत्यंत सजीव रूप से प्रत्यक्ष होने लगता है। जैन मूर्तियों के शिलालेख और जैन मुनियों एवं जैन पण्डितों की रचनाएँ बहुत विस्तृत और अत्रुट जानकारी प्रस्तुत करती हैं। उनके आधार पर ग्वालियर क्षेत्र का और साथ ही जैन धर्म के विकास का इतिहास बहुत विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

ग्वालियर के तोमर राज्य के संस्थापक वीरसिंहदेव (सन् 1375-1400 ई.) शिव और शक्ति के उपासक थे। वि. सं. 1439 (सन् 1382 ई.) में उन्होंने वीर-सिंहावलोक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की थी। वे ज्योतिष, धर्मशास्त्र एवं वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा दुर्गाभक्ति तरंगिणी की भी रचना की गई थी। परन्तु साथ ही वे जैन धर्म के प्रति भी अनुदार नहीं थे। उनके समय में श्रीकृष्णगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री जयसिंह सूरि ग्वालियर आए थे। वीरसिंहदेव के सभापण्डित शार्ङ्गधर तथा जयसिंह सूरि के बीच शास्त्रार्थ भी हुआ था। उस शास्त्रार्थ का विवरण जयसिंह सूरि के शिष्य नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीर महाकाव्य में दिया है। नयचन्द्र सूरि ने लिखा है, "सूरियों के इस चक्र के क्रम में, जिनके चरित विस्मय के आवास थे, श्री जयसिंह सूरि हुए, जो विद्वानों में चूड़ामणि थे, उनके द्वारा सारंग को वादविवाद में पराजित किया गया। यह सारंग उन कवियों में श्रेष्ठ था जो षड्भाषा में कविता कर सकते थे, तथा वह प्रामाणिकों (न्याय शास्त्रियों) में अग्रणी था।"

केवल नयचन्द्र की साक्षी के आधार पर यह मानना कठिन है कि शार्ङ्गधर जयसिंह सूरि से शास्त्रार्थ में पराजित हुए थे, परन्तु यह सुनिश्चित है कि तोमर-राजसभा सूरिजी की ज्ञान गरिमा से बहुत अधिक प्रभावित हुई और ग्वालियर में जैन धर्म के अद्वितीय विकास का सूत्रपात हुआ।

वीरसिंहदेव के पश्चात् उनके युवराज उद्धरणदेव (सन् 1400—1402 ई.) राजा बने। उनके छोटे-से राज्यकाल की कोई घटना ज्ञात नहीं हो सकी है। जैन धर्म के विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्धरणदेव के युवराज वीरमदेव (सन् 1402—1423 ई.) का राज्यकाल है।

वीरमदेव स्वयं अम्बिकादेवी और शिव के भक्त थे। साथ ही वे जैन धर्म को भी प्रश्रय देते थे। उनका प्रधान मंत्री कुशराज जैन था।

वीरम तोमर के समय में ग्वालियर में जैन धर्म का प्रभाव अपने विशिष्ट रूप में दिखाई देता है। देश के अन्य भागों में उस समय हिन्दू और जैन आपस में पर्याप्त भेदभाव मानने लगे थे और दो नटखट भाइयों के समान दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी भी आपस में झगड़ते थे। परन्तु यह मनमुटाव केवल ऊपरी था। वह जो हो, वीरमदेव के समय में ग्वालियर में कुछ और प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। यहाँ का राजा शिव-शक्ति का अनन्य उपासक और मंत्री अत्यन्त धर्मपरायण जैन था। परन्तु दोनों के निजी धर्म एक-दूसरे के पूरक दिखाई देते हैं। उस समय ग्वालियर के जैन पट्ट के भट्टारक थे गुणकीर्ति (सन् 1411—1429 ई.)। भट्टारक गुणकीर्ति ने जैन काव्य यशोधर चरित लिखाया अजैन कवि पद्मनाथ कायस्थ से। यद्यपि उसी समय वीरमदेव की राजसभा में नयचन्द्र सूरि जैसे महाकवि भी थे, तथापि उन्होंने जैन चरित न लिखकर हम्मीर महाकाव्य तथा रम्भा मंजरी लिखे, अर्थात् जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूरि का कार्य करता है वैष्णव कायस्थ और राजनीति का उपदेश देते हैं जैन सूरि। वीरमदेव के मंत्री कुशराज जैन ने ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के लिए बहुत कार्य किया था। इस कार्य में उसे राजा ने भी पूरा सहयोग दिया था। वि. सं. 1367 (सन् 1410 ई.) में सुहानियां में वीरमदेव ने अम्बिकादेवी के मन्दिर का पुनर्निर्माण किया और उसी वर्ष पास में ही चैत्रनाथ की विशाल जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।

कुशराज ने स्वयं ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का विशाल मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा का उत्सव बहुत समारोह के साथ किया। उसी समय उसने पद्मनाथ से यशोधर चरित काव्य लिखने का आग्रह किया था। पद्मनाथ कायस्थ को इस रचना के लिए भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था और कुशराज जैन द्वारा प्रश्रय मिला था।

कुशराज का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। यह वि. सं. 1375 (सन् 1418 ई.) में उत्कीर्ण किया गया था। इसके लेख से ज्ञात होता है कि कुशराज इस यंत्र की पूजा प्रतिदिन किया करता था।[13]

वीरमदेव के राज्य काल में संभवतः भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की तत्वदीपिका टीका की गई। अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की उस समय ग्वालियर में प्रतिलिपि की गई थी। इस प्रकार वीरमदेव के समय से इस क्षेत्र में न केवल जैन मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण पुनः प्रारंभ हुआ, वरन् प्राचीन जैन ग्रन्थों का अवगाहन भी प्रारंभ हुआ।

वीरमदेव की राजसभा के एक रत्न नयचन्द्र सूरि का उल्लेख किया जा चुका है। श्रीकृष्णगच्छ के नयचन्द्र पर काष्ठा संघ के भट्टारक गुणकीर्ति का कितना प्रभाव था, यह ज्ञात नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ग्वालियर के तोमरों के राष्ट्रकवि नयचन्द्र सूरि ने अपने राजा की राजसभा में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया था जिसके कारण जैनेतर नागरिकों में जैन मुनि बहुत आदरास्पद बन गये। आगे एक शताब्दी तक ग्वालियर में जैन धर्म की जो उन्नति हुई उसमें नयचन्द्र सूरि का बहुत हाथ था।

उस समय इस प्रदेश के हिन्दू तथा जैन, सभी तुर्कों के अत्याचार से पीड़ित थे। उस समय शासक और शासित वर्ग में विद्वेष की खाई बहुत बढ़ गई थी। शासित वर्ग ने यद्यपि बहुसंख्यक था, तथापि वह अपनी जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए स्वतंत्र नहीं था। इन परिस्थितियों में जो भी वीर किसी तुर्क सुल्तान से युद्ध करने का साहस करता था, उसे तत्कालीन बहुसंख्यक समाज राष्ट्रीय वीर के रूप में सम्मान देता था। नयचन्द्र सूरि ने राष्ट्र की इस भावना का समादर किया। हिन्दू-जैन विवाद से बहुत ऊपर उठकर उसने अपने युग की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को समझा। ब्राह्मण और जैन सम्प्रदायों के वन्दनीय देवताओं की द्विअर्थक वंदना के मंगल-श्लोक लिखकर उसने अपने हम्मीर महाकाव्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा—[14]

"पूर्व काल में मान्धाता, सीतापति राम और कंक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी पर कितने राजा नहीं हो गए, पर उन सब में अपने सत्वगुण के कारण, हम्मीर देव अद्वितीय और स्तवन योग्य पुरुष हैं। इस सात्विक वृत्ति

13. तोमरों का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 50।

14. हम्मीर महाकाव्य क्र. 8, 9 तथा 10।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले पुरुष ने विधर्मी शक (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री तथा अपने शरण में आए विधर्मी व्यक्तियों (माहिमसाहि) तक को न देने के लिए राजलक्ष्मी, सुखविलास और अपने जीवन तक को तृणवत् समझकर उसका त्याग कर दिया ।

"इसलिए राजन्यजन के मन को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उक्त गुणों के गौरव से प्रेरित होकर उसका थोड़ा-सा चरित वर्णन करता हूँ ।"

नयचन्द्र सूरि ने वीरमदेव तोमर के समक्ष हम्मीरदेव का आदर्श रखा था । अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए तथा शरणागत का प्रतिपालन करने के लिए, भले ही वह किसी धर्म का अनुयायी हो, युद्ध में प्राण देना श्रेयस्कर है । महाकवि के इस उद्बोध ने उस युग के अनेक राजन्यजन के मनों को पवित्र किया था और वे अपनी जीवन-पद्धति की रक्षा के लिए युद्धरत हुए थे ।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रंभामंजरी है । रम्भामंजरी में सूत्रधार ने व्यक्त किया है कि "ग्रीष्म ऋतु की विश्वनाथ यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनों का प्रबन्ध-नाट्य द्वारा मनोरंजन किया जाए ।" नयचन्द्र को ज्ञात था कि जिस समाज के लिए वह नाटक लिख रहा है, उसमें अधिकांश विश्वनाथ का भक्त है, अतएव उसने उसके अभिनीत किए जाने के लिए विश्वनाथ यात्रा का समय ही सुनिश्चित किया । रंभामंजरी के मंगल श्लोक में विष्णु के वराह रूप की वंदना की गई है । जैन मुनि द्वारा यह मंगल श्लोक साभिप्राय लिखा गया था और वह नयचन्द्र सूरि की महान राष्ट्रीय भावना का द्योतक है । पंक में फँसी विश्वा—पृथ्वी को दंष्ट्राग्र पर उठाकर उद्धार करनेवाली शक्ति की तत्कालीन भारत को परम आवश्यकता थी ।[15]

अपनी विद्वत्ता और राष्ट्र प्रेम के कारण नयचन्द्र सूरि ने तत्कालीन तोमर राजा, उसकी "सामाजिक संसद" तथा अन्य नागरिकों को बहुत अधिक प्रभावित किया था । इस प्रभाव का उपयोग भट्टारक यशःकीर्ति, जैन श्रेष्ठि और श्रावकों ने ग्वालियर में जैन धर्म को प्रतिष्ठित करने में बहुत बुद्धिमतापूर्वक किया ।

वीरमदेव तोमर के राज्यकाल में ही कालपी के सुल्तान ग्वालियर के तोमर राज्य को घेर रहे थे और उसे हड़प जाना चाहते थे । कालपी के सुल्तानों का राज्य ग्वालियर के पास भाण्डेर तक फैल गया था । सन् 1435 ई. में ग्वालियर के तोमर राजा डूंगरेन्द्रसिंह ने कालपी के सुल्तान मुबारकशाह को भाण्डेर पर पूर्णतः पराजित कर दिया । इस युद्ध में डूंगरेन्द्रसिंह को बहुत अधिक धन भी मिला था और प्रतिष्ठा भी । इस विजय के उपलक्ष्य में ग्वालियर में बहुत बड़े समारोह मनाए गए । महाराज डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि विष्णुदास से पांडव चरितु (महाभारत) की रचना कराई । उधर स्थानीय जैन समाज ने भी इस उत्सव में पूर्ण योगदान दिया । साहु खेतसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ग्यारह हाथ ऊँची जैन प्रतिमा का निर्माण कराया और, विजय की इस शुभ वेला में, महाराज डूंगरेन्द्रसिंह से इसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए आज्ञा माँगी । राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा, "आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न कीजिए । मुझसे आप जो माँगेंगे सो दूँगा ।"

इसी प्रतिष्ठोत्सव समारोह के अवसर पर प्रसिद्ध जैन कवि पण्डित रइधू ने अपनी प्रथम रचना सम्मत-गुण-निहान प्रस्तुत की ।

सन् 1435 ई. की इस घटना ने ग्वालियर के इतिहास को बहुत अधिक प्रभावित किया । अगले 40 वर्षों में दिल्ली, हिसार, चन्दवार आदि स्थलों से अनेक

15. यह स्मरणीय है कि वराहावतार को ग्वालियर के तोमरों ने अपना राजचिह्न बनाया था ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(एक पत्थर की वावडी, पर स्थित, गुहा मन्दिर; जैन मूर्ति समूह)

जैन व्यापारी ग्वालियर आते रहे । उनमें से अनेक यहाँ बस गए और लगभग सभी ने गोपाचल के किसी-न-किसी कोने में गुहामन्दिर बनवाए तथा जैन ग्रन्थों की रचना की प्रेरणा दी और अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराईं । इन समस्त कार्यों के पीछे भट्टारक यशःकीर्ति की प्रेरणा थी ।

रइधू के ग्रन्थों से तथा इस समम के उपलब्ध लगभग 40 मूर्तिलेखों से डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय में ग्वालियर में हुए जैन धर्म के विकास का बहुत स्पष्ट और विस्तृत इतिहास लिखा जा सकता है। दर्जनों संघाधिपतियों, तथा सैकड़ों श्रावकों का पूर्ण विवरण सजीव रूप में ज्ञात हो जाता है । किसने क्या कराया, इसका भी पूरा विवरण प्राप्त हो जाता है । वह समस्त विवरण यहाँ देने से प्रसंग बहुत बढ़ जाएगा । यहाँ एक-दो उदाहरण देना ही पर्याप्त है ।

रइधू ने "सम्मइजिन-चरिउ" में हिसार निवासी एक अग्रवाल जैन व्यापारी का बहुत विस्तृत विवरण दिया है । साहु नरपति का पुत्र बील्हा फीरोजशाह तुगलुक द्वारा सम्मानित व्यापारी था । उसी के वंश में संघाधिपति सहजपाल हुआ, जिसने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था और उसका समस्त व्यय भार वहन किया था । सहजपाल का पुत्र साहु सहदेव भी संघाधिपति था । उसका छोटा भाई तोसड़ था । तोसड़ का पुत्र खेल्हा था । भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करने के लिए खेल्हा ने गोपाचल पर चन्द्रप्रभु की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। उसने ही रइधू से "सम्मईजिनचरिउ" ग्रन्थ की रचना कराई।

रइधू ने मेघेश्वर चरित तथा पार्श्वनाथ चरित में एक और व्यापारी-परिवार का उल्लेख किया है। यह परिवार दिल्ली से आकर ग्वालियर में बस गया था। साहु खेऊ दिल्ली से ग्वालियर आकर यहाँ नगर सेठ बन गए। खेऊ द्वीपान्तरों से वस्त्र और रत्न मँगाकर व्यापार करते थे। उसने गोपाचलगढ़ पर विशाल जिन मूर्ति बनवाई। इस मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है कि उसके प्रतिष्ठाचार्य रइधू ही थे। खेऊ के पुत्र कमलसिंह भी ग्वालियर में ही रहे। उनके द्वारा आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची प्रतिमा बनवाई गई। रइधू ने कमलसिंह के पुत्र हेमराज का भी उल्लेख किया है। हेमराज का व्यापार ग्वालियर जौर दिल्ली, दोनों स्थलों पर चलता था। हेमहाज संघाधिपति भी बना। उसने गोपाचलगढ़ पर युगादिनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया। इस मूर्ति के लेख में ग्वालियर के महाराज कीर्तिसिंह देव को "हिन्दू-सुरत्राण" कहा गया है।[16]

इसी समय एक और साहु पद्मसिंह के दर्शन होते हैं। इन्होंने अपनी "चंचला लक्ष्मी" का सदुपयोग करने के लिए 24 जिनालय बनवाए, पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि कराई तथा एक लाख ग्रन्थ प्रतिलिपि कराकर भट्टारक यशःकीर्ति को भेंट किए।

कुछ जैन साध्वियों ने भी अनेक गुहामन्दिर बनवाकर उनके मूर्तिलेखों पर अपने नाम अंकित करा दिए।

चालीस वर्षों के समय में ग्वालियर में जैन धर्म के विकास के लिए जो कुछ हुआ था, उसमें डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह की उदार धार्मिक नीति तो प्रधान थी ही, तथापि इसका प्रमुख श्रेय भट्टारक गुणभद्र के

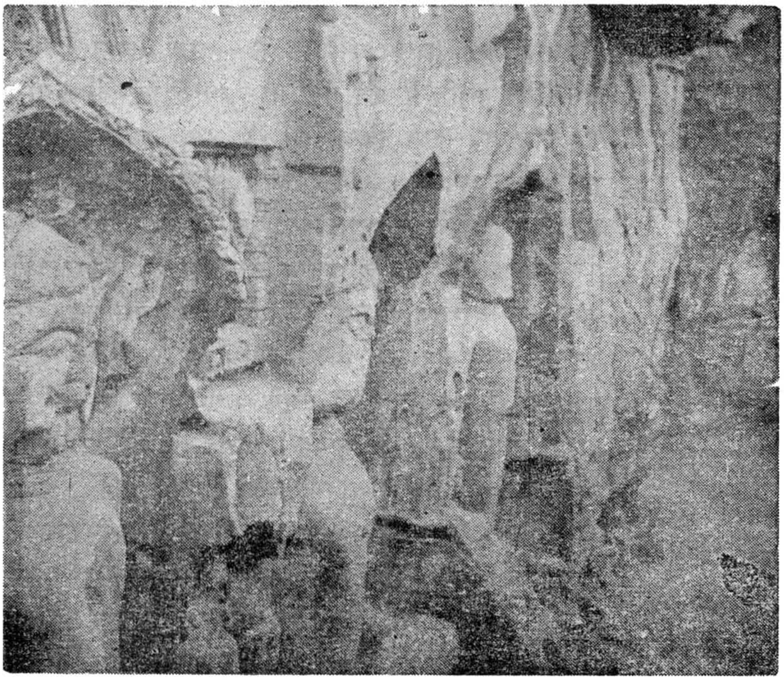

(उरवाई द्वार स्थित
खण्डित जैन प्रतिमाएँ)

16. द्विवेदी, ग्वालियर राज्यके अभिलेख, क्र. 293।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोटे भाई और शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति को है। उन्हीं की प्रेरणा से उत्तरी भारत के समृद्ध जैन व्यापारी ग्वालियर की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गढ़ और नगर, दोनों को जैनतीर्थ का स्वरूप दे दिया। भट्टारक यशःकीर्ति की प्रेरणा से ही पण्डित रइधू ने अनेक जैन ग्रन्थ लिखे। तथापि भट्टारक यशःकीर्ति का बहुत महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन जैन साहित्य का पुनरुद्धार था। आज स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियों की रचना उपलब्ध न होती, यदि ग्वालियर के जैन मठ में भट्टारक यशःकीर्ति उनकी प्रतिलिपियाँ कराकर न रखते। जिस प्रकार ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात में हेमचन्द्राचार्य ने जैन धर्म के विकास के लिए बहुमुखी प्रयास किया था, वैसा ही प्रयास महामुनि यशःकीर्ति ने ग्वालियर में किया था।

कीर्तिसिंह (सन् 1459—1480 ई.) के उपरान्त ग्वालियर पर कल्याण मल्ल (सन् 1480—1486 ई.) का राज्य हुआ। उस समय तक भट्टारक यशःकीर्ति की मृत्यु हो चुकी थी। उसी समय दक्षिण के कुन्दकुन्दान्वय सरस्वतीगच्छ का पट्ट भी ग्वालियर में स्थापित हो गया था। उस पट्ट पर भट्टारक शुभचन्द्र देव आसीन थे।

मानसिंह तोमर (सन् 1486—1516 ई.) के राज्यकाल में भी ग्वालियर में जैन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा रही। उसका प्रधान मंत्री खेमशाह जैन था। उसने भी संघाधिपति या सिंघई या विरुद लिया था। उनके समय में काष्ठासंघ के पट्ट पर भट्टारक विजयसेन आसीन थे। कुछ नवीन जैन मन्दिर भी बने थे। सिरीमल के पुत्र चतरू ने वि. सं. 1469 (सन् 1512 ई.) में नेमीश्वरगीत लिखा था। इसमें तत्कालीन जैन समाज के विषय में उसने लिखा है—

एक सोवन की लंका जिसी, तौवरु राउ सबल बलवीर
भुयबल आपुनु साहस धीर, मानसिंह जग जानिए।
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहि दिन भोग
जैन धर्म बहुविधि चलै, श्रावग दिन जु करें षटकर्म॥

मानसिंह के राज्यकाल तक तोमरों का ग्वालियर जैन धर्मानुयायियों के लिए "देवपत्तन" बना रहा। सन् 1523 ई. में मानसिंह का राजकुमार विक्रमादित्य (सन् 1516 – 1523 ई.) इब्राहीम लोदी द्वारा पराजित हुआ और उसे गोपाचलगढ़ छोड़ देना पड़ा। उसके उपरान्त "गोपाद्रौ देवपत्तने" में क्या होता रहा, यह हमारा यहाँ वर्ण्य विषय नहीं है। हम एक बात कह सकते हैं, उसके उपरान्त जैन सम्प्रदाय के अनुयायी भी यह भूल गए कि देश के इस भाग में उनके धर्म के विकास, प्रचार और प्रसार के लिए क्या-क्या किया गया था, कैसी महान् विभूतियों ने कितने उच्च प्रतिमान स्थापित किये थे? भट्टारकगण गुणकीर्ति और यशःकीर्ति के गौरवशाली कृत्यों का आज किसे स्मरण है? रइधू मात्र जैन-कथा लेखक के रूप में प्रख्यात है, उसने "तीर्थेशोवृषभेश्वरो गणनुतो गौरीश्वरो शंकरो" लिखकर ऋषभदेव और शंकर की एकरूपता प्रतिपादित कर धार्मिक सहिष्णुता का भी मार्ग प्रशस्त किया था, यह कितनों को ज्ञात है? कुशराज जैन तथा श्री तोडर क्षेमशाह जैसे प्रधान मंत्रियों ने, साहु खेल्हा, खेऊँ, कमलसिंह आदि ने जैन धर्म और ग्वालियर की समृद्धि के लिए क्या-क्या किया था ये सब तथ्य पूर्णतः भुलाये जा चुके हैं। कुछ पत्थर बोलना चाहते हैं, इनकी यशोगाथा वे शताब्दियों से अपने हृदय-पटलों पर अंकित किए पड़े हैं, परन्तु उन्हें कोई सुनना नहीं चाहता। वास्तव में सन् 1523 ई. में ग्वालियर का अन्तिम स्वतंत्र राजा विक्रमादित्य ही पराजित नहीं हुआ था, उसके प्रदेश की उसके पूर्व की अनेक पीढ़ियों द्वारा किए गए सांस्कृतिक जागरण के कारणभूत महापुरुषों की यशोगाथा भी भुला दी गई। विजेताओं की विजयवाहिनियों के घोर दुंदुभिनाद में उनकी वाणी तिरोहित होगई और उन सेनाओं के प्रयाण से उड़ी धूल में वह गौरवशाली अतीत दब गया। पराजय की यह अनिवार्य नियति है। उस देवपत्तन के इतिहास-निर्माण की ओर सक्षम और समर्थ व्यक्ति आकर्षित हों, यह मंगल कामना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org